



गायत्री मंत्र के **धि** अक्षर की व्याख्या

जीवन और मृत्यु

● श्रीराम शर्मा आचार्य

जीवन और मृत्यु

गायत्री का सत्रहवां अक्षर 'धि' हमको जीवन और मृत्यु के तत्त्व को जानने की शिक्षा देता है ।

धियामृत्यु स्मरेन्मर्म जानीयं जीवनस्य च ।

तदालक्ष्यं समालक्ष्य पादौ संततमाक्षिपेत् ॥

अर्थात्— “मृत्यु को ध्यान में रखें और जीवन के मर्म को समझ कर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर हों ।”

मृत्यु से डरने की कोई बात नहीं, क्योंकि कपड़ा बदलने के समान यह एक स्वाभाविक एवं साधारण बात है । परन्तु मृत्यु को ध्यान में रखना आवश्यक है । मार्ग के विश्रामगृह में ठहरे हुए यात्री को जैसे रातभर ठहर कर कूच की तैयारी करनी पड़ती है और फिर दूसरी रात किसी अन्य विश्रामगृह में ठहरना पड़ता है, उसी प्रकार जीव भी एक जीवन को छोड़ कर दूसरे जीवन में प्रवेश करता रहता है ।

दृष्टिक जीवन में कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए जिससे आगे की प्रगति में बाधा पड़े । विश्रामगृह के अनावश्यक झगड़ों में उलझ कर जैसे कोई मुख यात्री मुकदमा, जेल में फँस जाता है और अपनी यात्रा का उद्देश्य बिगाड़ लेता है, वैसे ही जो लोग वर्तमान जीवन के तुच्छ लाभों के लिए अपना परम् लक्ष्य नष्ट कर लेते हैं वे निश्चय ही अज्ञानी हैं।

जीवन एक नाटक की तरह है। इस अभिनय को हमें इस प्रकार खेलना चाहिए कि दूसरों को प्रसन्नता हो और अपनी प्रशंसा हो । नाटक खेलते समय सुख और दुःख के अनेक प्रसंग आते हैं, पर अभिनय करने वाला पात्र उस अवसर पर वस्तुतः सुखी या दुःखी नहीं होता । इसी प्रकार हम को जीवन रूपी खेल में बिना किसी उद्वेग के अभिनय का कौशल प्रदर्शित करना चाहिए । पर साथ ही अपने लक्ष्य को भूलना न चाहिए ।

मृत्यु इस जीवन नाटक का अन्तिम पटाक्षेप है । इसके बाद अभिनय कर्ता को विश्राम मिलता है । मृत्यु का द्रुत जीवन का अन्तिम अतिथि है, उसके स्वागत के लिये सदा तैयार रहना चाहिए । अपनी कार्य प्रणाली ऐसी रखनी चाहिए कि किसी भी समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो तो किसी प्रकार का पश्चाताप न करना पड़े ।

जीवन का लक्ष स्थिर करो

जीवन को सफल बनाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यकता यह है कि हम अपने जीवन का एक लक्ष सोच समझ कर स्थिर कर लें और तदनुकूल मार्ग से अग्रसर हों । बिना लक्ष का कोई भी काम अधिक फल-दायक अथवा प्रभावशाली नहीं हो सकता । इस प्रकार कार्य करने से परिश्रम और शक्ति का अपव्यय होता है, जिसके लिये बाद में पछताना पड़ता है । इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को जीवन के आरम्भ में ही अपना एक ऐसा लक्ष निर्धारित कर लेना चाहिये जिससे सांसारिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध हो सकें । स्वयं वेद ने भी ऐसा ही आदेश दिया है -

जातो जायते सुदिनत्वे अन्हां समये आ विदथे वर्धमानः ।

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियति वाचम् ॥

(जातः) जीव (अन्हाम्) दिनों को (सुदिनत्वे) सुदिन करने के निमित्त (जायते) उत्पन्न होता है । वह (समये) जीवन संग्राम के निमित्त (विदथे) लक्ष प्राप्ति के निमित्त (आ) सब प्रकार से (वर्धमानः) बढ़ता है (धीरः) धीर पुरुष (मनीषा) बुद्धि से (आपसः) कर्मों को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं । और (विप्रः) सुधी ब्राह्मण (देवया) दिव्य कामना से (वाचम्) वाणी को (उत इर्यति) उच्चारण करता है ।

जिन्दगी के दिन तो पशु पक्षी भी काटते हैं । मौत के दिन तो कीट पतंग भी पूरे करते हैं । मनुष्य इस प्रकार दिन काटने के लिए यहाँ नहीं आया है । उसके जीवन का एक-एक दिन अमूल्य है । इन दिनों को सुदिन, उत्तम दिन, महान दिन, महत्वपूर्ण दिन बनाने के लिए वह उत्पन्न होता है । जीवन धारण की सफलता दिनों को सुदिन बनाने में है । जो दिन महान कार्य करने में, आत्मोन्नति में, धर्माचरण में, परमार्थ में, कर्तव्य पालन में, लोक सेवा में व्यतीत हो जाते हैं, वही सुदिन हैं । जैसे वायु सुगन्धित और दुर्गन्धित पदार्थों के संसर्ग से बुरी भली कहलाती है, उसी प्रकार दिन भी सुन्दर उत्तम कार्यों के द्वारा सुदिन और बुरे कर्मों के कारण दुर्दिन बन जाते हैं । मनुष्य अपने जीवन दिनों को सुदिन बनाने के उद्देश्य से उत्पन्न होता है ।

सुदिन किस प्रकार बने ? इसका उत्तर वेद ने 'समर्थ' और 'विदग्ध' शब्दों में दिया है, लक्ष स्थिर करके और उसके लिए संघर्ष करके जीवन को सफल बनाया जा सकता है । बिना लक्ष का जीवन वैसे ही है जैसे बिना सवार का छुट्टल घोड़ा, बिना पतवार की नाव, बिना डोरी की पतंग, परिस्थितियों के झोंके इन्हें चाहे जिधर उड़ा ले जाते हैं । जिस पथिक का लक्ष स्थिर नहीं, कभी पूरव को चलता है तो कभी पच्छिम को लौट पड़ता है, कुछ दूर उत्तर को चलता है फिर दक्षिण की ओर मुड़ पड़ता है, ऐसा रास्तागीर भला किसी स्थान पर किस प्रकार पहुँच सकेगा ? उसकी यात्रा का क्या परिणाम निकलेगा ? हर बुद्धिमान चलना प्रारम्भ करने से पूर्व यह निश्चय कर लेता है कि मेरा लक्ष किस स्थान पर पहुँचना है । इस निश्चय से ही वह दिशा नियत करता है, रास्ता मालूम करता है और बिना इधर-उधर भटके निश्चित गति से उस राह पर चला जाता है और नियत स्थान तक पहुँच जाता है, मनुष्य को भी पहले अपना लक्ष निर्धारित करना आवश्यक है । मुझे अमुक तत्व प्राप्त करना है, यह निश्चय जब भली भौति हो जाता है तभी यह निश्चित कार्यक्रम बनता है, अन्यथा कभी यह, कभी वह पाने के लिए उछल कूद होती रहती है । बन्दर एक डाली से दूसरी पर उचकता फिरता है, उसी प्रकार लक्ष हीन मनुष्य कभी यह, कभी वह चाहता है, इसे छोड़ता है, उसे पकड़ता है । पर जिसने लक्ष स्थिर कर लिया है वह बन्दूक की गोली की तरह सनसनाता हुआ अपने निशाने पर जा पहुँचता है । उछलने कूदने वाले का जीवन दुर्दिनों में, निष्फलता में व्यतीत होता है । पर लक्ष वाला अपने जीवन को सुदिन बना लेता है ।

लक्ष स्थिर करने में मनुष्य स्वतन्त्र है, अज्ञानी मनुष्य मन की, इन्द्रियों की भ्रूख बुझाने में प्रसन्न रहते हैं और ज्ञानी आत्मोन्नति के लिये, आत्मा की क्षुधा पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । अज्ञानी दृष्टिकोण के द्वारा चिन्ता, शोक, क्लेश, अशान्ति एवं पाप के दुर्दिन सामने खड़े रहते हैं और ज्ञानी दृष्टिकोण के द्वारा निर्भयता, प्रसन्नता, शान्ति । यह दो ही मार्ग हैं— एक प्रेय दूसरा श्रेय । एक प्रिय लगने वाला है दूसरा कल्याण देने वाला है, हिरण्यकश्यप, रावण, कंस, दुर्योधन सरीखे प्रेय को लक्ष बनाते हैं । हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, मोरध्वज, प्रहलाद, जीवन और मृत्यु)

ध्रुव, ईसा, गांधी जैसे महापुरुष श्रेय को अपना लक्ष बनाते हैं । दोनों में से एक जो पसंद हो उसे मनुष्य चुन सकता है । पर वेद भगवान उसी लक्ष को स्थिर करने की सलाह देते हैं, जिससे दिनों को सुदिन बनाया जा सके । ऐसा लक्ष श्रेय ही हो सकता है । श्रेय को अपनाने में ही कल्याण है, बुद्धिमानी है ।

किसी भी वस्तु प्राप्ति के लिये श्रम करना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है । यदि नवजात बालक रोना, चिल्लाना और हाथ पांव फेंकना छोड़ दे तो वह अपाहिज हो जाता है, उसका विकास रुक जाता है और शक्तियाँ विदा हो जाती हैं । पथिक दिनभर मार्ग से लड़ता है, एक के बाद दूसरा कदम लगातार उठाता धरता रहता है, तब कहीं आगे बढ़ पाता है । विद्यार्थी, बलार्थी, यशार्थी, स्वार्थी सभी को प्रयत्न परिश्रम एवं संघर्ष करना पड़ता है । धरती का पेट चीर कर किसान अन्न उपजाता है, गहरा गड्ढा खोदने से पानी निकलता है, धातु को तपा और कूटकर बर्तन आदि बनाते हैं । जीवन भी संघर्ष से गढ़ता है, जीवन विकास के लिए प्रयत्न और परिश्रम आवश्यक है । आत्म कल्याण के लक्ष को पूरा करने के लिए श्रम करना पड़ता है, कठिनाइयों से लड़ना पड़ता है समुद्र मंथन से जैसे चौदह रत्न मिले थे, श्रम द्वारा जीवन मंथन करने से भी भौतिक सम्पत्तियाँ एवं दैवी संपदायें उपलब्ध होती हैं । इन सम्पन्नताओं के द्वारा मनुष्य बहुत आगे बढ़ जाता है, सफलता का मार्ग बहुत आसान हो जाता है ।

लक्ष्य प्राप्ति के लिए यह संघर्ष किस प्रकार किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है 'पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा ' धीर पुरुष विवेक पूर्वक कर्मों को पूरा कर लेते हैं । साधारण कर्मों को पवित्र कर्म बना लेना, यह धीर पुरुषों के विवेक का कौशल है ।

कोई भी काम न तो अपने आप में अच्छा है न बुरा । उसे जिस भावना से किया जाता है, उसी के अनुसार वह भला बुरा बन जाता है । पानी रंग रहित है, उसमें जैसा भी रंग डाल दिया जाय वह वैसे ही रंग का बन जाता है । इसी प्रकार समस्त कर्म भावना के अनुसार भले बुरे बनते हैं । कई बार सदुद्देश्य के लिए विवेक पूर्वक, सद्भावना के साथ हिंसा, चोरी, असत्य, छल, व्यभिचार तक बुरे नहीं ठहरते । भगवान कृष्ण के तथा अन्य महापुरुषों के जीवन में इस प्रकार की घटनायें मिल

सकती हैं, जबकि अनुचित कहे जाने वाले कर्मों को अपनाया गया हो । इसी प्रकार अविवेक पूर्वक या बुरे उद्देश्य से किये गये सत्कर्म भी बुरे हो जाते हैं । आतातायी पर दया करना, हिन्सक अधिक के पुछने पर पशु पक्षियों का पता बताने का सत्य बोलना, कुपात्रों को दान देना आदि कार्यों से उल्टा पाप लगता है । इसलिए कर्म के स्थूल रूप पर अधिक ध्यान न देकर उसकी सूक्ष्म गति पर विचार करना चाहिए ।

दैनिक काज जिन्हें आमतौर से सब लोग किया करते हैं, यदि उन्हें ही सद्भावना से, उच्च विचार से किया जाय तो वे ही यज्ञ रूप हो सकते हैं । परिवार का भरण पोषण यदि इस भावना के साथ किया जाय कि “भगवान ने इतने प्राणियों की सुरक्षा, उन्नति एवं व्यवस्था का भार मेरे ऊपर सौंपा है, इस इयूटी को सच्चे बफादार भक्त की तरह पूरी ईमानदारी से पूरा करूँगा, परिवार के किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति न समझूँगा, बदले की कोई आशा न रखूँगा । तो इसी उच्च भावना के कारण वह कुटुम्ब पालन उतना ही पुण्य फलदायक बन जाता है, जितना कि उतने ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराना, उतने अनार्यों का पालन पोषण करना, उतने निराश्रितों की सेवा करना, उतने अशिक्षितों को शिक्षित बनाना । चूँकि प्राणि भगवान की चलती फिरती प्रतिमा है इसलिए इतने प्राणियों की सेवा व्यवस्था, देव मन्दिर में भगवान की पूजा करने से किसी प्रकार कम महत्व की नहीं होती ।

यही कुटुम्ब पालन यदि स्वार्थ की, मालिक की, खुदगर्जी की, बदला प्राप्त होने की, अहंकार पोषण की भावना से होता है, तो स्वार्थ साधन कहा जायेगा और भावना की तुच्छता के कारण उसका फल भी वैसा ही होता है । व्यापार, कृषि, शिल्प, युद्ध, उपदेश आदि व्यसनों को यदि यह सोच कर किया जाय कि ‘इन कार्यों से संसार की सुख शान्ति में वृद्धि हो, सात्विकता बढ़े, मेरे कार्य नर नारायण को प्रसन्न करने वाले और संतोष देने वाले हों’ तो इन भावनाओं के कारण ही वह साधारण कार्य पुण्यमय, यज्ञ रूप बन जाते हैं ।

केवल कल्पना करने या झूठ मूठ मन समझा लेने या किन्हीं शब्दों को मन ही मन दुहरा लेने को भावना नहीं कहते । सच्चा संकल्प, पक्का दृष्टिकोण और अटूट विश्वास मिल कर भाव बनता है । उस भाव जीवन और मृत्यु)

से किये हुए कार्य उच्च, अच्छे, लाभदायक, सुदृढ़ एवं सात्विक होते हैं । उच्च भावना के साथ जिस कुटुम्ब का पालन किया गया है, उसमें राजा हरिश्चन्द्र के से स्त्री पुत्र निकलेंगे । व्यभिचारिणी स्त्री और अवज्ञाकारी पुत्र वहाँ मिलेंगे जहाँ कुटुम्ब पोषण तुच्छ विचारधाराओं के साथ किया जाता है । उच्च दृष्टिकोण वाला ब्राह्मण यजमान को ठगने के लिये मीन मेख लड़ाने की हिम्मत नहीं करता । उच्च दृष्टिकोण वाला क्षत्रिय किसी निर्बल या निरपराध की तरफ तयारी नहीं चढ़ा सकता । उच्च भावना वाला वैश्य घी में वैजीटेबिल नहीं मिला सकता और न तमाखू की, गंदी पुस्तकों की, मांस मदिरा की दुकान खोल सकता है । जाल साजी से भरी हुई कमजोर, नकली, मिलावटी, हानिकारक चीजें वह कितने ही बड़े प्रलोभन के बदले नहीं बेच सकता । अपने लाभ को वह ग्राहक के लाभ से अधिक महत्व नहीं दे सकता । शूद्र श्रम में चोरी नहीं कर सकता, हराम का पैसा उसे विष के समान कड़ुआ लगता है । खरी मजूरी देने में दूसरे लोग ढील करें इसे तो वह किसी प्रकार सहन कर सकता है पर काम में ढील देकर वह अपनी आत्मा को कलंकित नहीं कर सकता । इस प्रकार उच्च दृष्टिकोण से किये हुए काम संसार के लिए बड़े लाभदायक होते हैं, उससे लोक में सुख शान्ति की वृद्धि होती है, जिसका पुण्य फल उच्च दृष्टिकोण वालों को ही मिलता है ।

विचारों को उच्च बनाकर, भावनाओं को परमार्थमयी रख कर धीर पुरुष, विवेक द्वारा कर्मों को पवित्र कर लेते हैं । ऐसे पुरुषों के विचार और कार्य तो महान होते ही हैं, साथ ही वे सुधी उत्तम बुद्धि वाले, ब्रह्मपरायण व्यक्ति वाणी को भी दिव्य कामना से ही उच्चारण करते हैं वाणी से कड़ुआ वचन, असत्य वचन, घमण्ड भरा वचन वे कदापि नहीं बोलते । जिस बात से विरोध, द्वेष, कलह क्लेश, क्षोभ होता हो, पाप करने को उत्तेजना मिलती हो, निराशा उत्पन्न होती हो, भय श्रम या लोभ बढ़ता हो ऐसा वचन वे नहीं बोलते । किसी को ऐसी सलाह वे नहीं देते जिससे उसे तुरन्त तो कुछ क्षणिक लाभ हो जाय पर अन्त में दुःख उठाना पड़े । सुधी लोग अपनी वाणी पर संयम रखते हैं । बेकार कतरनी सी जीभ चलाकर निष्प्रयोजन वक्तास नहीं करते, भावना में जैसी शक्ति है वैसी ही शक्ति शब्द में भी है । इसलिए वे सोच समझ कर मुँह

खोलते हैं । निन्दा, चुगली से दूर रहते हैं, उनकी वाणी में प्रेम, प्रोत्साहन, विनय, नम्रता, मधुरता, सरलता, सच्चाई एवं हित कामना भरी रहती है ।

जीवन के तेरह रूप

मानव जीवन की विभिन्नता प्रसिद्ध है आपको जिस प्रकार का जीवन पसंद है दूसरा उसी को निम्न दृष्टि से देखता है, तीसरा उसी का मजाक उड़ाता है, चौथा उसी से प्रभावित होता है ।

यहां हम तेरह प्रकार के जीवन का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं । पाठक स्वयं ही देखें कि वे कौन सी श्रेणी में आते हैं ? किस प्रकार के जीवन को कितने अंशों में पसंद करते हैं ?

प्रथम रूप :-

इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति सामाजिक जीवन तथा अपने इर्द-गिर्द के वातावरण में सक्रियता से भाग लेता है । अपने समुदाय तथा जाति के कार्यों में दिलचस्पी लेता है । उसके वातावरण को परिवर्तित तो करना नहीं चाहता वरन उसे समझना, पसंद करना और मानव समुदाय ने जो सर्वोत्तम किया है उस तक पहुँचना चाहता है । अनियंत्रित इच्छाओं का दमन तथा नियंत्रण को पसंद करता है । जीवन की सभी अभिनन्दनीय वस्तुओं का सुख क्रमानुसार प्राप्त करना चाहता है । वह जीवन में स्पष्टता संतुलन परिष्कार और संयम की आकांक्षा रखता है । बेहूदगी, अत्यधिक जोश, थोथी शान, अविवेकी व्यवहार, अशान्ति, वासना पूर्ति या जिहवा तृप्ति से दूर रहता है । सबके साथ मित्रता का व्यवहार रखता है किन्तु अनेक व्यक्तियों से गहरी दोस्ती स्थापित नहीं करता । जीवन में संयम, स्पष्ट उद्देश्य, उत्तम व्यवहार तथा निश्चित क्रम अनिवार्य है । सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन आये, वे बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे होने चाहिए जिससे मानव संस्कृति को बड़ा घक्का न लगे । व्यक्ति सामाजिक और शारीरिक दृष्टि से सक्रिय बना रहे । सक्रिय जीवन में अनुशासन और बुद्धि तत्व की प्रधानता रहे ।

द्वितीय रूप :-

व्यक्ति को अपना मार्ग निर्धारित करना चाहिए । मानव समाज से अपना सम्बन्ध गुप्त रखना, अपने पर ही अधिक समय देना, अपने जीवन को संयमित करना चाहिए । व्यक्ति को आत्म तुष्ट, चिन्तन, मनन और आत्म ज्ञान में लिप्त रहना चाहिए । ऐसा व्यक्ति सामाजिक झुण्डों से दूर, भौतिक वस्तुओं से विरक्त, अपने आपको संयमित करने में ही अधिक समय देता है । सोचता है - अपना बाहरी जीवन सरल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, और भौतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को घटाने का प्रयत्न करना चाहिए । शरीर के कार्य आत्मा के विकास, परिष्कार और प्रतीति के लिए होने चाहिए । बाह्य जीवन अर्थात् बाहरी आडम्बरो तथा झंझटों में लिप्त जीवन से कुछ नहीं हो सकता । व्यक्तियों तथा वाह्य वस्तुओं पर अत्यधिक आश्रित रहना कम करना चाहिए । जीवन का मूल केन्द्र आन्तरिक जीवन में ही प्राप्त हो सकता है ।

तृतीय रूप :-

सोचता है-सहानुभूति पूर्ण व्यवहार तथा दूसरों में दिलचस्पी ही जीवन का मूल अभिप्राय होना चाहिए । जीवन के प्रेम, वह प्रेम जो दूसरों पर दबाव या अनुचित रीति से अपने स्वार्थ के लिए उनकी सेवाओं का उपयोग करना नहीं सिखलाता । यह प्रेम स्वार्थ सिद्धि से मुक्त है । बहुत सी वस्तुओं पर अधिकार, कामोत्तेजक सुखों तथा वस्तुओं व मनुष्यों पर शासन करने की आदत छोड़नी चाहिए । क्योंकि इससे दूसरों के साथ पूर्ण प्रेम, विस्त्रत सार्वभौमिक प्रेम की सिद्धि नहीं हो सकती । और बिना इस प्रेम प्रतीति के जीवन नीरस बालू के समान है । यदि हम हिंसक हैं, या हिंसा जन्य मानवीय दुर्बलताओं के शिकार हैं तो हम इस सहानुभूति के हृदय-द्वार बन्द कर रहे हैं । अतः हमें अपनी संकुचितता त्याग कर दूसरों के लिए प्रेम आदर, प्रशंसापूर्ण सहायता से परिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए ।

चौथे प्रकार का जीवन :-

जीवन आनन्द के, मजेदारी के लिए दिया गया है । इन्द्रियों के सुख लूटने चाहिए, आमोद प्रमोद का आनन्द उठाना चाहिए । जीवन का अभिप्राय संसार या जीवन के क्रम को रोकना नहीं । प्रत्युत जीवन को सब प्रकार के

आनन्दों के लिए उनमुक्त करना है । जीवन एक आनन्दोत्सव है, नैतिकता तथा नियंत्रण का स्कूल या धर्मालय नहीं । जैसे जीवन प्रवाह बहता है वैसे ही उसे चलने देना, वस्तुएँ या व्यक्ति जैसा चलना चाहते हैं उन्हें वैसा ही विकसित होने देना, शिव तत्व या शुभ कार्य करने से अधिक महत्व पूर्ण है । इस प्रकार के ऐंद्रिक आनन्द के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए ।

पाँचवें प्रकार का जीवन :-

मनुष्य को केवल अपने आप ही में डूबे नहीं रहना चाहिए । न दूसरों से बचना, दूर रहना, या अपने ऊपर ही केन्द्रित रहना चाहिए । इसके विपरीत उसे अपने समाज में विलीन कर देना चाहिए । अपने साथियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए । मित्रता द्वारा सामान्य तथा सार्वभौमिक हितों की प्राप्ति में प्रयत्नशील होना चाहिए । व्यक्ति को सामाजिक होना चाहिए और क्रियाशील जीवन व्यतीत करना चाहिए । आलस्य में नहीं, जीवन को शक्ति के वेग में लय करना चाहिए और सामूहिक आनन्द लाभ करना चाहिए । चिन्तन, संयम, आत्म नियंत्रण, इत्यादि मनुष्य को सीमित बना कर जीवन का आनन्द ही नष्ट कर डालते हैं । हमें बड़े शान से जीवन के सभी वाह्य और एन्द्रिय सुखों का उपभोग करते हुए दूसरों की सहायता तथा उनके सुख में सुखी होते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए । मानव जीवन अधिक गंभीर चीज नहीं है ।

जीवन का छटा रूप :-

जीवन की गति धीरे-धीरे स्थिरता और रुकावट की ओर है, आराम तलब बनकर जीवन में जंग लग जाता है, इस निश्चेष्टता तथा स्थिरता के विरुद्ध हमें निरन्तर उद्योग करना चाहिए और निरन्तर कुछ न कुछ करना, शारीरिक श्रम, समस्याओं का 'यथार्थवादी' स्पष्टीकरण समाज तथा विश्व को नियन्त्रित करने के लिए क्रियात्मक योजनाएँ बनाते रहना चाहिए । मनुष्य का भविष्य मूल रूप से इस बात पर निर्भर रहता है कि वह क्या करता है ? कैसे करता है ? कितना प्रयत्न और उद्योग करता है ? न कि वह क्या सोचता है । सोचने से करना अधिक महत्वपूर्ण है । यदि विकास की आकांक्षा है तो परिष्कृत कार्य होने आवश्यक हैं । हम केवल प्राचीन काल के स्वरूप मात्र नहीं देख सकते न भविष्य के विषय जीवन और मृत्यु)

में रंगीन कल्पनायें ही निर्मित कर सकते हैं । हमें तो दृढ़ता और नियमितता से कार्य करना है ।

जीवन का सातवां रूप :-

भिन्न-भिन्न काल और समयों में जीवन के क्रम, उद्देश्य एवं नीति को परिस्थिति एवं काल के अनुसार परिवर्तित करना है, किसी एक को पकड़ कर नहीं चलना है । कभी एक उद्देश्य तो कभी दूसरी नीति काम करती है । जीवन में आनन्द चिन्तन एवं कार्य सभी आवश्यक तत्व हैं । जब इनमें से कुछ भी कम या अधिक हो जाता है तो हम कुछ न कुछ महत्वपूर्ण चीज खो देते हैं अतः हमें परिस्थिति के अनुसार मुड़ना या लचक जाना सीख जाना चाहिए , और साथ ही साथ आनन्द और कार्य में से कुछ समय पृथक चिन्तन के लिए भी निकालना चाहिए । जीवन का अधिकतम लाभ कार्य, चिन्तन, आनन्द के क्रियाशील सामंजस्य में निहित है, अतः इन सभी का उचित उपयोग जीवन में होना चाहिए ।

आठवीं प्रकार का जीवन:-

आनन्द ही जीवन का मूल तत्व होना चाहिए । तीव्र और उद्वेगजन्य आनन्द नहीं, सरल और सहज रूप में प्राप्त हो जाने वाला आनन्द ही सर्वोत्कृष्ट है । इन आनन्दों में सीधा-सादा सात्विक आहार, आराम देने वाली परिस्थितियाँ, इष्ट मित्रों की सुखद वार्ता, विश्राम, और मानसिक तनाव को कम करना है । प्रेम और सौहार्द से युक्त घर सम्माननीय सामाजिक स्थिति पौष्टिक भोजन से भरी हुई रसोई, ये घर को रहने योग्य बनाती हैं । शरीर विश्राम ले सके, मानसिक तन्तु तने न रहें, मस्तिष्क से धीरे-धीरे काम लिया जाता रहे, अनावश्यक तेजी, चिन्ता, जल्दबाजी न रहे । सायंकाल दिनभर के कठिन परिश्रम के पश्चात् विश्राम कर सकें, संसार को कृतज्ञता से आशीर्वाद दे सकें । यही जीवन सार है । आगे ढकेलने वाली महत्वाकांक्षा और योगियों जैसा कठोर संयम अतृप्त व्यक्तियों का प्रतीक है । इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में सरल निर्द्वन्द और निश्चिन्त आनन्द के प्रवाह में तैरने की शक्ति नहीं होती ।

नवीं प्रकार का जीवन :-

हमें अपने आप को शिक्षण के लिए खुला रखना चाहिए । यदि हम मन को संकार्ण न बनावें और प्रत्येक प्रकार की शिक्षा तथा सद्ज्ञान को

ग्रहण करने के लिए तैयार रहें, तो हमारा जीवन स्वयं उत्तम प्रकार के रूप में आ जायगा । जीवन में उत्तमोत्तम वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न होने लगती हैं, क्योंकि हमारे जीवन का आदि श्रोत परमेश्वर है । आनन्द हमें शारीरिक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पौँचों प्रकार के आनन्दों से मिलने वाला नहीं है । सामाजिक जीवन की गूढ़ गुत्थियों में जकड़े रहने से सर्वोत्कृष्ट लाभ नहीं मिल सकता । न इसे दूसरे को दिया जा सकता है इन्हें गूढ़ चिन्तन द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता । ये तो भली प्रकार का जीवन व्यतीत करते रहने से स्वयं आते हैं । हमारा जीवन धीमी गति से उन गुणों को प्रकट कर रहा है जो आत्मा में विद्यमान है । जब हमारा शरीर आवश्यकताओं और फरमाइशों को बन्द करदे और शान्त हो कर सद्ज्ञान ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जाय तो वह उच्च मत दैवी नियमों के द्वारा परिचालित होने के लिए तैयार हो जाता है । इन दैवी विभूतियों से परिचालित हो कर उसे वास्तविक आनन्द और शान्ति मिलती है । दैवीय सदेह को ग्रहण करने के लिए प्रकृति के आंगन में शान्त बैठना और अन्तरात्मा के अनुसार जीवन पथ निर्धारित करना मूल चीज है । तब बाहर से मन के अन्दर ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होता है ।

जीवन का दसवां स्वरूप—:

आत्म-संयम मानव जीवन का मूल होना चाहिए । वह सरल आत्म संयम नहीं जिसके कारण मनुष्य संसार से विरक्त होकर दूर चला जाता है, प्रत्युत सदैव सचेत, दृढ़, पुरुषोचित आत्म संयम जो जीवन में रहता है और मानव जीवन की कमजोरियों को समझता है । उत्तम जीवन का निर्देशन समझदारी से होता है और उच्च आदर्शों पर मजबूती से दृढ़ रहता है । आनन्द और इच्छा मात्र से वे आदर्श नहीं झुकते । वे सामाजिक प्रतिष्ठा के भूखे नहीं होते, अन्तिम पूर्ण सफलता में भी उनका पूर्ण विश्वास नहीं होता, अधिक लाभ की आकांक्षा नहीं की जा सकती । सावधानी से चलने पर मनुष्य व्यक्तित्व पर अंकुश रख सकता है, कार्यो पर नियन्त्रण रख सकता है, और स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर रख सकता है । यही जीवन का मर्म है । यद्यपि इस मार्ग पर चलने से मनुष्य नष्ट हो जाता है, तथापि इसमें उसका पुरुषोचित गौरव कायम रह सकता है ।

जीवन और मृत्यु)

जीवन का ग्यारहवां स्वरूप :-

चिन्तन प्रधान जीवन उत्तम जीवन है । बाह्य सामाजिक जीवन मनुष्य के लिए उपयुक्त नहीं है । यह अत्यन्त विस्त्रत है, नीरस और स्वार्थ मय है । आन्तरिक जीवन की महानता ही जीवन को जीने योग्य बनाती है । आदर्शों का आन्तरिक जीवन, कोमल भावनाओं, भावी उन्नति के सुखद स्वप्न, आत्म जिज्ञासा की तृप्ति मनुष्य की वास्तविक सम्पत्ति है । आन्तरिक विकास के द्वारा ही मनुष्य मानवीय विभूतियों से परिपूर्ण होता है । आन्तरिक गंभीर चिन्तन प्रधान जीवन से ही मनुष्य को स्थाई आनन्द की उपलब्धि होती है ।

जीवन का बारहवां स्वरूप :-

शरीर की शक्ति का अधिकतम उपयोग जीवन का पुरस्कार है । हाथों को कुछ ऐसी चीज की आवश्यकता है जिससे वे कुछ निर्माण कर सकें । लकड़ी और ईट मकान के लिए, काटने के लिए सफल आरी, सांचे में ढालने के लिए मिट्टी, करने के लिये कुछ काम । उसके पुट्टे और मांसपेशियों, विभिन्न अवयव कुछ न कुछ करने के लिए आतुर रहते हैं । जीवन का उत्साह मार्ग की अड़चनों को विजय करने में, विजयी जीवन व्यतीत करने में, राज्य करने में है । क्रियात्मक स्फूर्ति दायक, चलने फिरने से युक्त जीवन, जो जल की भांति सदैव चलता फिरता हिलता डुलता रहे, अग्रगामी, सचेष्ट हो वही वास्तविक जीवन का स्वरूप है ।

जीवन का तेरहवां स्वरूप :-

हमें अपने आप को दूसरे के द्वारा काम में लाये जाने देना चाहिए । दूसरे व्यक्ति अपने विकास के लिए हमें काम में लें और हम चुपचाप बिना किसी दिखावे के उनकी सहायता करते रहें, उन्हें कुछ देकर उन्नत होने में सहायक हों, जिससे वे वह कार्य पूर्ण कर सकें, जिसके लिये उनका निर्माण हुआ है । प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का अंश विद्यमान है और उन पर विश्वास किया जा सकता है । हमें विनम्र, निरन्तर उद्योगशील, सत्यनिष्ठ होना चाहिए । जो प्रेम करे उसके प्रति कृतज्ञ, जो सहायता करे उनके लिए सहायक सिद्ध होना चाहिए, किन्तु किसी प्रकार की मांग पेश करना अनुचित है । जनता के समीप आइये । प्रकृति के समीप आइये और क्यों कि आप समीप हैं, आप प्रत्येक भांति सुरक्षित भी हैं । एक ऐसा गंभीर, शांत, विशाल पात्र बनिये जिसके द्वारा सबकी इच्छा तृप्त होती रहे ।

अपने जीवन को दिव्य बनाइये

संसार में आकर यह चेष्टा करना कि सब लोग एकसा ही जीवन—जैसे किसी सबसे बड़े विद्वान या ऋषि मुनि ने सर्व श्रेष्ठ बतलाया है, व्यतीत कर सकें, एक निरर्थक सी बात है। ऊपर जीवन के जो तेरह रूप बतलाये हैं, वे महत्व की दृष्टि से भले ही न्यूनाधिक हों पर समाज में सभी तरह के व्यक्तियों के लिये स्थान होता है। न सबके भोगी बन जाने से काम चल सकता है, न त्यागी बन जाने से। पर मनुष्य किसी भी लौकिक प्रवृत्ति को ग्रहण करे, उसे आत्मोन्नति का ध्यान अवश्य करना चाहिए। जो लोग जीवन का उद्देश्य केवल खाना, पीना, सांस लेना ही समझ लेते हैं, वे भूल करते हैं।

जीवन दो प्रकार का होता है, एक तो भौतिक दूसरा आध्यात्मिक। वैज्ञानिकों का कथन है कि विचारना, जानना, इच्छा करना, भोजन करना, सांसलेना इत्यादि जो कार्य हैं वही जीवन है। परंतु यह जीवन अमर नहीं होता। ऐसा जीवन दुःख, सुख, चिन्ता, आशक्ति, विपत्ति, पाप, बुढ़ापा रोग इत्यादि का आखेट बना रहता है। अतएव प्राचीन महर्षियों, योगियों और तपस्वियों ने अपने चित्त और इन्द्रियों को अपने वश में करके त्याग और तप, वैराग्य और अभ्यास आदि के बल से आत्म निरीक्षण किया है। निश्चय पूर्वक कहा है कि जो आत्मा में रत है केवल मात्र वही स्थाई और असीम आनन्द एवं अमरत्व प्राप्त कर सकता है। उन्होंने मनुष्य के भिन्न-भिन्न स्वभाव योग्यता और रुचि के अनुसार आत्म साक्षात्कार के लिए विभिन्न निश्चित मार्ग बतलाये हैं। जिन लोगों को ऐसे महात्माओं में, वेदों में और गुरु के बचनों में अटूट श्रद्धा है वे आध्यात्मिक और सत्य के मार्ग पर निर्भीक विचरते हैं और स्वतन्त्रता पूर्णता या मोक्ष प्राप्त करते हैं। वे लौट कर फिर मर्त्यलोक में नहीं आते। वे सच्चिदानन्द ब्रह्म में या अपने ही स्वरूप में स्थिर रहते हैं। यही मानव जीवन का ध्येय एवं उद्देश्य है, यही अन्तिम लक्ष्य है, जिसके अनेक नाम यथा—निर्वाण, परमगति, परमधाम और ब्राह्मी स्थिति हैं। आत्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम भौतिक जीवन की उपेक्षा करें,

जीवन और मृत्यु)

93

भौतिक जगत भी परमेश्वर या ब्रह्म का ही स्वरूप है जिसको कि उसने अपनी लीला के लिये बनाया है । अग्नि और उष्णता, बर्फ और शीत, पुष्प और सुगन्धि की भांति जड़ और चेतन अभिन्न हैं । शक्ति और शक्त एक ही हैं । ब्रह्म और माया अभिन्न और एक हैं । ब्रह्म-मय और शाश्वत जीवन प्राप्त करने के लिए भौतिक जीवन एक निश्चित साधन है । संसार आपका एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है, पञ्च तत्व आपके गुरु हैं । प्रकृति आपकी माता है और पथ प्रदर्शिका है, यही आपकी मूक शिक्षिका है । यह संसार दया, क्षमा, सहिष्णुता, विश्वप्रेम, उदारता, साहस, धैर्य, महत्वाकांक्षा इत्यदि दिव्य गुणों के विकास के लिए एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षालय है । यह संसार आसुरी स्वभाव से युद्ध करने के लिये एक अखाड़ा है और अपने भीतर की दैवी शक्ति को प्रकाश में लाने के लिए एक दिव्य क्षेत्र है । गीता और योग वशिष्ठ की मुख्य शिक्षा यही है कि मनुष्य को संसार में रहते हुए आत्म साक्षात्कार करना चाहिए । जल में कमल पत्र की नाई संसार में रहते हुए भी उसके बाहर रहिए स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि नीच आसुरी स्वभाव को त्याग कर मानसिक त्याग और आत्म बलिदान का दिव्य स्वभाव धारण करिये ।

क्या जीवन में खाने पीने और सोने से अधिक उत्तम और कोई कार्य (उद्देश्य) है ही नहीं ? मानव योनि प्राप्त करना दुष्कर है, अतएव इसी जीवन में आत्मा को प्राप्त करने की भरपूर चेष्टा करिये । राजा महाराजाओं को भी काल कवलित कर लेता है । आज युधिष्ठिर, अशोक, बाल्मीकि, शेक्सपियर, नेपोलियन आदि कहाँ हैं ? इसलिये आत्मिक साधनों में लग जाइए, तभी आप परमानन्द की प्राप्ति कर सकेंगे । ताश, सिनेमा और धूम्रपान में व्यर्थ समय बिताने से क्या आपको असली शान्ति मिल सकती है ? इस सांसारिक जीवन में इन्द्रिय लोलुपता और विषय वासना के क्षणिक सुख में भटकते रहने से क्या आपको सच्चे सुख का अनुभव हो सकता है ? आपके झगड़े में या व्यर्थ के बकवास में क्या आप को सच्चा आनन्द मिल सकता है ?

अपने आदर्श और लक्ष्य तक पहुँचने के लिये संग्राम करते रहना ही जिन्दगी है । इस संग्राम में विजय प्राप्त करना ही जीवन है । अनेक प्रकार की जागृतियों को ही जीवन कहते हैं । मन और इन्द्रियों पर

१४ (जीवन और मृत्यु

विजय प्राप्त करिये । ये ही आपके असली शत्रु हैं । अपनी वाह्य और आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करिये । अपनी पुरानी बुरी आदतों तथा कुविचारों को कुसंस्कारों और कुवासनाओं को अवश्य जीतना होगा इन पैशाचिक शक्तियों से युद्ध करना होगा और विजय प्राप्त करनी होगी । अधःपतन की ओर लेजाने वाली वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा ।

आपका जन्म ही आत्म साक्षात्कार करने के लिये हुआ है । नियमित रूप से भजन करिये और आत्मिक सुख का अनुभव करिये । निष्काम कर्म के द्वारा अपने मन और बुद्धि को शुद्ध करिये । इन्द्रिय—निग्रह से अपने ही स्वरूप में स्थिर होइये । जीवन संग्राम में जब आप पर प्रतिदिन चोटें पड़ती हैं, जब आप घक्के खाते हैं, तभी मन आध्यात्मिक पथ की ओर झुकता है और तब सांसारिक विषयों से अन्यमनस्कता उत्पन्न होती है, अरुचि होती है और इस प्रपंच से उद्धार पाने की उत्कण्ठा जाग्रत होती है, विवेक और वैराग्य होता है ।

आध्यात्मिक जीवन निरा काल्पनिक नहीं है, केवल आवेश मात्र नहीं है । यही सच्चा आत्म स्वरूप जीवन है, यह विशुद्ध आनन्द और सुख का अनुपम अनुभव है । इसी को पूर्णता प्राप्त जीवन कहते हैं । एक स्थिति ऐसी होती है जहां सदा शाश्वत शान्ति और केवल अनन्त आनन्द ही आनन्द है, परमानन्द है । वहां न तो मृत्यु है और न वासना ही, वहां न दुःख है न दर्द, न भ्रम है न शंका ।

इस शरीर को ही आत्मा समझ लेना बड़ा पाप है , इस प्रमात्मक भाव को त्याग दीजिये । सांसारिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपाय करना, तरकीबों का सोचना, विचारना, झूठे मनसूबे बांधना, ख्याली पुलाव छोड़िये, चिर पालित मायाविनी आशाओं को तिलांजली दीजिये, वासनाओं और इच्छाओं का दमन कर ऊपर उठिये बुद्धि से काम लीजिए । उपनिषदों का मनन पूर्वक अध्ययन करिये । नियमित निदिध्यासन करिए, अविद्या और अज्ञान के गहन अंधकूप से बाहर निकलिए और ज्ञान रूपी सूर्य की जगमगाती ज्योति में स्नान करिए । इस ज्ञान में दूसरों को भी साथी बनाइये । अपवित्र इच्छायें और अविद्या आपको बहका लेती हैं । अतः इसे भी कभी न भूलिए कि मानव जीवन जीवन और मृत्यु)

का मुख्य उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार करना ही है । झूठे बाह्य आडम्बरों और माया के मिथ्या प्रपंचों में मत फँसिये । कल्पना के मिथ्या सवर्णों से जागिये और धोये, सारहीन प्रलोभनों के जाल में न फँसकर ठोस और जीती जागती असलियत को ही पढ़िये अपने आत्मा से प्रेम करिये, क्यों कि आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्म है । यही सजीव मूर्तिमान सत्य है ।

कर्मयोग का अभ्यास जिज्ञासु के मन को आत्म ज्ञान ग्रहण करने योग्य बनाता है और उसे वेदान्त के अध्ययन का योग्य अधिकारी बना देता है । कर्मयोग की प्रारम्भिक शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व ही मूढ मानव ज्ञानयोग अभ्यास में असमय ही कूद पड़ते हैं । यही कारण है ऐसे लोग सत्य की प्राप्ति में बुरी तरह फेल होते हैं । उनका मन अपवित्र रहजाता है तथा अनुकूल और प्रतिकूल भावनाओं से भरा रहता है । वे ब्रह्म की कोरी बात ही बात करते हैं तथा व्यर्थ वकवाद, शुष्क वाद विवाद और तत्वहीन तर्क वितर्क में फँसि रहते हैं । उनका दार्शनिक ज्ञान उनकी जिह्वा तक ही सीमित रहता है या यों कहिए कि वे लोग केवल मौखिक वेदान्ती हैं । आवश्यकता तो ऐसे वेदान्त की है जिसके द्वारा सबमें आत्म भाव रखते हुए देव और मानव समाज की अनवरत निःस्वार्थ सेवा क्रियात्मक रूप से हो सके ।

अपने हृदय में प्रेम की ज्योति जगाइए, सबको प्यार करिये, अपनी प्रगाढ़ प्रेम की बाहुओं से प्राणिमात्र को आलिंगन करिए । प्रेम एक ऐसा रहस्यमय सूत्र है जो सबके हृदयों को “वसुधैव कुटुम्बकम्” समझ कर एक में बांध लेता है । प्रेम ऐसी पीड़ा नाशक स्वर्गीय महा औषधि है जिसमें जादू की सी सामर्थ्य है । अपने प्रत्येक काम को विशुद्ध प्रेम मय बनाइए । लोभ, घूर्तता, छल, कपट और स्वार्थपरता को हनन कीजिये । अनवरत दयालुता के कार्यों से ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है । प्रेम में सने हुए हृदय से सतत सेवा करने से क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या आदि दूर होते हैं । दयालुता से भरे हुए कार्य करने से आपको अधिक बल अधिक आनन्द, और अधिक संतोष की प्राप्ति होगी, सब आपसे प्रेम करेंगे । दया, दान और सेवा से हृदय पवित्र और कोमल हो जाता है और साधक का जीवन प्रस्फुटित और ऊर्ध्वमुखी होकर ईश्वरीय प्रकाश को ग्रहण करने के योग्य बन जाता है ।

सिद्धांतों पर आचरण करना आवश्यक है

संसार में आचरण की महिमा सबसे अधिक है । जिस मनुष्य के कहने और करने में अन्तर रहता है उसकी बात का प्रभाव न तो दूसरों पर पड़ता है और न वह स्वयं कोई स्थाई सफलता प्राप्त कर सकता है । जीवन में यह जानना सबसे आवश्यक बात है कि सबसे प्रमुख क्या है तथा सर्व प्रथम क्या किया जाना चाहिए । मध्य से किसी कार्य को प्रारम्भ करना असफलता का सूचक है । वह व्यापारी जो अपना व्यापार छोटी मात्रा से प्रारम्भ करता है और क्रमशः उसे बढ़ाता है, अन्त में समृद्धि प्राप्त करता है । तत्त्व ज्ञानियों को भी यही अध्ययन प्रायः जीवन की साधारण घटनाओं और गुत्थियों से होता है । उन्नति की परम चोटी पर एक बारगी उछाल द्वारा नहीं चढ़ा जा सकता, उस पर पहुँचने के लिए कर्म और साधना की सीढ़ी आवश्यक है ।

जब हम मानव जीवन के मूल सिद्धांतों पर दृष्टिपात करते हैं तो 'कर्तव्य' इसमें सर्व प्रथम आता है । कर्तव्य की सबसे स्पष्ट व्याख्या है, अपने कार्य में तल्लीनता और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करने की भावना । वह व्यक्ति जो सदैव दूसरों को मार्ग बताने का दावा करता है, स्वयं अपने ही मार्ग को नहीं जानता । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के कर्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं और दूसरे के कर्तव्य की अपेक्षा अपने कर्तव्य का ज्ञान अधिक होना चाहिए । आवश्यकता और स्थिति के अनुसार हम कर्तव्य की मीमांसा में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर सकते हैं ।

ईमानदारी जीवन का दूसरा सिद्धांत है , 'वही करो जो कहो' , इसका मूल मन्त्र है । इसका कार्य जीवन को अनेकानेक चालाकियों और चालबाजियों और छल कपटों से दूर करना है । ईमानदारी से मनुष्य के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है और यह विश्वास ही सम्पूर्ण सुख और समृद्धि का जनक है ।

मितव्ययता जीवन का दूसरा सिद्धांत है । धन के उचित उपयोग को ही मितव्ययता कहते हैं । ज्यो-ज्यो धन बढ़ता जाता है मितव्ययता की आवश्यकता पड़ती जाती है । अपनी आय की सीमा में ही अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखो, यही इसकी सर्व प्रथम सीख है । धन

के अतिरिक्त यह हमें मानसिक और शारीरिक दुरूपयोग से भी रोकती है । हमारी आय और शक्तियाँ सीमित हैं । उनका अपव्यय शीघ्र ही हमें उनसे वंचित कर देगा । इसलिए उनका उपयोग क्रमशः एवं आवश्यकता के अनुसार किया जाना चाहिए ।

उदारता अप्रत्यक्ष रूप से मितव्ययता से संबंधित है । जो मितव्ययी न होगा वह उदार भी नहीं हो सकता । जो अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का अपव्यय स्वयं ही कर लेगा , उसके पास इतनी शक्ति ही कहीं रहेगी कि वह दूसरों पर उसका उपयोग करे । धन की सहायता तो उदारता की सबसे साधारण व्यवस्था है । विचारों भावनाओं सद्कामनाओं द्वारा प्रदत्त सहायता उदारता की सीमा में आती है । उदारता का प्रभाव व्यापक और बहुत काल तक रहने वाला होता है । उदारता अपने बदले में किसी से किसी प्रकार की कामना नहीं करती । प्रतिफल की इच्छा रखने वाली उदारता सिद्धांत न होकर व्यापार मात्र रह जाती है ।

आत्म संयम जीवन का पौंचवां और अन्तिम सिद्धांत है । वह व्यवसायी अथवा अन्य कोई व्यक्ति जो शीघ्र नाराज हो जाता है और असंयत भाषा और भाव प्रदर्शित करने लगता है, जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता । अपने मन की दुर्बलताओं का अधिकार करना, समय और परिस्थिति के अनुकूल विवेक द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना ही आत्म संयम है । ऐसा व्यक्ति सदैव कर्तव्यनिष्ठ चरित्रवान और मानव सुलभ सम्पूर्ण गुणों से सुशोभित होगा । आत्म संयमी व्यक्ति के लिए संसार में न तो कोई कार्य कठिन है और न उसके पथ पर कोई बाधा ही है ।

उपयुक्त पांच सिद्धांत सफलता के पांच मार्ग हैं, जीवन के पथ पर प्रकाश की पाँच किरणें हैं । सम्भव है कि प्रारम्भ में इनका व्यवहारिक निरूपण कठिन हो , किन्तु अभ्यास हमें इन सिद्धांतों से अभिन्न रूप से जोड़ देगा । यदि हम इनकी उपयोगिता और महत्व को अच्छी तरह समझ लें, तो हमें इन्हें अपनाने में तनिक भी कठिनाई न होगी ।

यदि हम संसार के महानुभावों के जीवन का भली भांति विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें से प्रत्येक के ही जीवन में यह पांचों सिद्धांत किसी न किसी रूप में भली भांति विद्यमान हैं । इसमें मानो किसी भी महापुरुष के व्यक्तित्व का निचोड़ आ जाता है ।

महाप्रभु कोटिल्य ने ठीक ही कहा है “तू सूर्य और चन्द्र को अपने पास नहीं उतार सका, इसका कारण उनकी दूरी नहीं, तेरी दूरी की भावना है । तू संसार को बदल नहीं पाया इसका कारण संसार की अपरिवर्तन शीलता नहीं, तेरे प्रयासों की शिथिलता है । जब तू यह कहता है कि मैं अपने में परिवर्तन नहीं कर सकता तो इसे स्थिति और विधाता कहकर न टालो, वरन साफ-साफ अपनी कायरता और अकर्मण्यता कहो क्योंकि इच्छा की प्रबलता ही कार्य की सिद्धि है ।”

मृत्यु का भय त्याग दीजिए

जो व्यक्ति जीवन के सच्चे सिद्धांतों को समझ कर तदनुसार आचरण करता है और प्रपंचों से बचकर कर्तव्य पालन में दत्तचित्त रहता है, वह संसार में किसी बात से भयभीत नहीं होता । मृत्यु भी उसे डरा नहीं सकती । बल्कि ऐसे सत्यमार्ग पर चलने वाले के लिये तो वह एक समुचित विश्राम की तरह ही जान पड़ती है ।

मरने से डरने का कारण हमारा अज्ञान है । परमात्मा के इस सुन्दर उपवन में एक से एक मनोरम वस्तु है । यहाँ यात्रियों के मनोरञ्जन की सुव्यवस्था है, पर वह यात्री जो इन दर्शनीय वस्तुओं को अपनी मान बैठता है, उन पर स्वामित्त प्रगट करता है, उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, अपनी मूर्खता के कारण दुःख का ही अधिकारी होगा । इस संसार का हर पदार्थ, हर परमाणु तेजी के साथ बदल रहा है । इस गतिशीलता का नाम ही जीवन है । यदि हमें आगे चलते रहना है तो निश्चय ही उत्पादन, विकास और विनाश का क्रम टूट जाय तो यह संसार एक निर्जीव जड़ पदार्थ बन कर रह जायगा । यदि इसे आगे चलते रहना है तो निश्चय ही उत्पादन, परिवर्तन और नाश का क्रम अनिवार्यतः जारी रहेगा । शरीर चाहे हमारा अपना हो अपने प्रियजन का हो, उदासीन का हो, या शत्रु का हो निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होगा । जब जिस समय हम चाहें तभी वे शरीर नष्ट हों ऐसा नहीं हो सकता । प्रकृति के परिवर्तन, कर्म-बन्धन, ईश्वरीय इच्छा-ये प्रधान हैं, इनके आगे हमारी इच्छा चल नहीं सकती । जिसे जब मरना है वह तब मर ही जायगा, हम उसे रोक नहीं सकते । इस जीवन मृत्यु के अटल नियम को जानने के कारण ही मृत्यु जैसी साधारण घटना के लिये हम रोते चिल्लाते, छाती कूटते भयभीत होते और दुःख मनाते हैं ।

जीवन और मृत्यु)

जिसे जीवन का वास्तविक स्वरूप मालूम हो गया है उसे न अपनी मृत्यु में कोई दुःख की बात प्रतीत होती है और न दूसरों की मृत्यु का कष्ट होता है । किसी विशाल नगर के प्रमुख चौराहे पर खड़ा हुआ व्यक्ति देखता है कि प्रतिक्षण असंख्यों व्यक्ति अपने कार्यक्रम के अनुसार इधर से उधर आते जाते हैं । वह स्वयं भी कहीं से आया है और कहीं जा रहा है केवल कुछ क्षण के लिये चौराहे का कौतूहल देख रहा है । इस अपने या दूसरों के आवागमन पर यदि यह व्यक्ति दुःख माने, रुदन या विलाप करे तो उसे अविवेकी ही कहा जायगा । संसार के विशाल चौराहे पर ऐसे ही आवागमन की भीड़ लग रही है । एक की मृत्यु ही दूसरे का जन्म है, एक का जन्म दूसरे की मृत्यु है । एक का सुख दूसरे का दुःख है और दूसरे का दुःख एक का हर्ष । यह आंख मिचौली, भूल भुलैयाँ, विवेकवानों के लिए एक चित्ताकर्षक, विनोदमयी क्रीडा है, पर बाल बुद्धि के व्यक्ति इसमें उलझ जाते हैं और इस कौतूहल को कोई अपत्ति मानकर सिर धुनते, रोते चिल्लाते और पश्चाताप करते हैं ।

मृत्यु के दुःख में शरीरों का नष्ट होना कारण नहीं वरन् जीवन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी न होना ही कारण है । ऐसे कितने वीर बलिदानी हुए हैं जो फाँसी की कोठरी में रहते हुए दिन-दिन अधिक मोटे होते गये, बजन बढ़ता गया और फाँसी के फटे को अपने हाथों गले से लगाया और खुशी के गीत गाते हुए मृत्यु के तख्ते पर झूल गये । कवि 'गंग' को जब मृत्यु दण्ड दिया गया और उन्हें पैरों तले कुचल ढालने को खूनी हाथी छोड़ा गया तो वे प्रसन्नता से फूल उठे, उन्होंने कल्पना की कि देवताओं की सभा में किसी छन्द बनाने वाले की आवश्यकता हुई है इसलिये मुझ कवि गंग को लेने हाथी रूपी गणेश आये हैं । कितने ही महात्मा समाधि लेकर अपना शरीर त्याग देते हैं उन्हें मरने में कोई अनौखी बात दिखाई नहीं देती ।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मरते समय भारी कष्ट होता है, इसलिये उस कष्ट की पीड़ा से डरते हैं । यह भी मृत्यु समय की वस्तु स्थिति की जानकारी न होने के कारण है । आमतौर से लोग मृत्यु से कुछ समय पूर्व बीमार रहते हैं । बीमारी में जीवनी शक्ति घटती जाती है और इन्द्रियों की चेतना शिथिल पड़ती जाती है, इस शिथिलता के साथ साथ ज्ञान तन्तु संज्ञाशून्य होते जाते हैं, फलस्वरूप दुःख की अनुभूति भी पूरी तरह नहीं हो पाती । प्रसूता स्त्रियाँ या लंघन के रोगी गर्मी की ऋतु में

रात को भी अक्सर बन्द धरों में सोते हैं पर उन्हें गर्मी का वैसा कष्ट नहीं होता जैसे स्वस्थ मनुष्य को होता है । स्वस्थ मनुष्य रात को बंद कमरे में नहीं सो सकता पर रोगी सो जाता है । कारण यह है कि रोगी के ज्ञान तन्तु शिथिल हो जाने के कारण गर्मी अनुभव करने की शक्ति मंद पड़ जाती है, रोगियों को स्वाद का भी ठीक अनुभव नहीं होता, स्वादिष्ट चीजें भी कड़वी लगती हैं क्योंकि जिह्वा के ज्ञान तन्तु निर्बल पड़ जाते हैं । रोगजन्य निर्बलता धीरे-धीरे इतनी बढ़ जाती है कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व मनुष्य संज्ञा शून्य हो जाता है और बिना किसी कष्ट के उसके प्राण निकल जाते हैं । जो कुछ कष्ट मिलना होता है रोग काल में ही मिल जाता है । डाक्टर लोग जब कोई बड़ा आपरेशन करते हैं तो रोगी को क्लोरोफार्म सुंघाकर बेहोश कर देते हैं ताकि उसे कष्ट न हो । दयालु परमात्मा भी आत्मा से शरीर को अलग करने का आपरेशन करते समय संज्ञा शून्यता का क्लोरोफार्म सुंघा देता है ताकि हमें मृत्यु का कष्ट न हो ।

यह सभी जानते हैं कि कोई रोगी जब मरने को होता है तो मृत्यु से कुछ समय पूर्व उसकी बीमारी मंद हो जाती है । कष्ट घट जाता है । तब अनुभवी चिकित्सक समझ जाते हैं कि अब रोगी का अन्तिम समय आ गया । कारण यह है कि बीमारी के कारण रोगी की जीवनी शक्ति चुक जाती है और ज्ञान तन्तु रोग को प्रकट करने एवं कष्ट अनुभव करने में असमर्थ हो जाते हैं । यह मान्यता भ्रम पूर्ण है कि गर्भकाल में माता के उदर में और मृत्यु के समय प्राणी को अधिक कष्ट होता है । दोनों ही दिशाओं में मस्तिष्क अचेतन अवस्था में और ज्ञानतन्तु संज्ञाशून्य अवस्था में रहने के कारण प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता । ऐसी दशा में मृत्यु के कष्ट से डरने का कोई कारण नहीं रह जाता ।

अनावश्यक मोह ममता ही मृत्यु भय का प्रधान कारण है । हम कर्तव्य से प्रेम करने की अपेक्षा वस्तुओं से मोह करने लगते हैं । हमारा प्रेम कर्तव्य भावना में संलग्न न रहकर शरीर सम्पत्ति आदि में लग जाता है । प्रिय वस्तु के हाथ से जाने में कष्ट होता ही है, इसलिये मरने का भी दुख होता है । यदि आरम्भ से ही यह मान कर चला जाय कि हमारे अधिकार या सम्बन्ध में जो भी शरीर या पदार्थ हैं वे प्रकृति के धर्म परिवर्तन के कारण किसी भी समय बन, बिगड़ या नष्ट हो सकते हैं तो उनसे अनावश्यक मोह ममता जोड़ने की भूल न हो । तब मनुष्य यह जीवन और मृत्यु)

सोचेगा कि संसार में सबसे अधिक प्रिय, सबसे अधिक आत्मीय, सबसे अधिक लाभदायक अपना “कर्तव्य” है । उसी से पूरा पूरा प्रेम किया जाय । इस प्रेम को जितना अधिक बढ़ाया जा सके बढ़ाया जाय, इस प्रेम से जहाँ रत्ती भर भी बिछोह हो वहाँ दुःख माना जाय तो यह प्रेम अनन्त सुख शान्ति देने वाला बन जायगा । जो कर्तव्य पालन को अपना लाभ समझेगा उसे हानि का दुःख न उठाना पड़ेगा । कारण यह है कि अपना प्रेमी “कर्तव्य” सदा अपने साथ है , उसे कोई भी शक्ति हमारी इच्छा के विपरीत हमसे नहीं छीन सकती । इसी प्रकार हमारे लाभ का केन्द्र बिन्दु हमारा “कर्तव्य” है तो उसमें घाटा पहुँचाने वाला हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता । हमारे प्रेम और लाभ जब पूर्णतया हमारे हाथ में हैं तब बिछोह या हानिजन्य दुःखों के सामने आने का कोई कारण नहीं रह जाता । दूसरों की मृत्यु-प्रेमियों और पदार्थों की मृत्यु का दुःख हमसे तभी दूर रह सकता है जब हम मिथ्या मोह ममता को छोड़कर कर्तव्य से प्रेम करना और उसी को अपनी सम्पत्ति समझने का विवेक हृदयंगम कर लें ।

अपनी मृत्यु में दुःख भी इस बात का होता है कि जीवन जैसे बहुमूल्य पदार्थ का सदुपयोग नहीं किया गया । आलस्यवश जब देर में स्टेशन पहुंचने पर रेल निकल जाती है तो उस दिन नियत स्थान पर न पहुँच सकने के कारण जो भारी क्षति हुई उसका विचार कर करके यह आलसी मनुष्य स्टेशन पर खड़ा हुआ पछताता है और अपने आप को कोसता है । मृत्यु के समय भी ऐसा पश्चाताप होता है जब कि मनुष्य देखता है कि मानव जीवन जैसी बहुमूल्य वस्तु को मैंने व्यर्थ की बातों में गँवा दिया, उसका सदुपयोग नहीं किया, उससे जितना लाभ उठाना चाहिए था वह नहीं उठाया, यदि हम जीवन के क्षणों का सदुपयोग करें, उसकी एक-एक घड़ी को केवल आत्म लाभ के, सच्चे स्वार्थ के लिए लगावें तो चाहे आज चाहे कल जब भी मृत्यु सामने आवेगी तो किसी प्रकार का पश्चाताप या दुःख न करना पड़ेगा ।

मृत्यु के समय दुःख या भय से मुक्ति

जिन लोगों का आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास है, पुनर्जन्म मानते हैं, वे यह समझते हैं कि मृत्यु भी आत्मा की एक अवस्था विशेष है। जिस प्रकार स्थूल शरीर को आत्मा धारण करती है और उस स्थूल शरीर को नित्य बदलती रहती है, कभी बचपन उसमें दिखाई देता है, कभी किशोर अवस्था, कभी जवानी दिखाई देती है तो कभी बुढ़ापा। शरीर के रहने पर जिस प्रकार अनेक - अनेक रूपान्तर होते हैं उसी प्रकार इस देह द्वारा संस्कारों का भोग प्राप्त होने पर इस देह को छोड़ कर दूसरे भोगोपयुक्त शरीर की रचना होती है। पहले शरीर को छोड़ना मृत्यु कहलाता है और शरीर को धारण करना जन्म। इसी प्रकार जन्म एवं मृत्यु का चक्कर चला करता है।

पर ऐसे लोग भी इस दुनियाँ में हैं जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते और इसलिये पूर्वजन्म पर भी उनका विश्वास नहीं है। उनके लिये यही जन्म सब कुछ होता है। इसलिये इस जन्म के प्रति, इस शरीर के प्रति उनमें अधिक मोह-अधिक ममत्व रहता है और सत्ता नाश का डर तो बना ही रहता है। 'हम काहू के मारे म मरें' कहने वाले अनेक व्यक्तियों की कथायें पुराण इतिहास में मिल जाती हैं।

जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध संस्कारों के साथ है। संस्कार कर्म के द्वारा पड़ते हैं, कर्म दो तरह के होते हैं- एक मानसिक दूसरे शारीरिक। दोनों प्रकार के कर्मों का संस्कार आत्मा के ऊपर पड़ता है। संस्कारों का संग्राहक मन है। इसलिये विविध ग्रंथों में संस्कारों को जन्म मरण का कारण न बतला कर मन को ही उसका कारण ठहराया है।

मृत्यु की अवस्था तक संस्कार ग्रहण न करने योग्य मन यदि बन जाता है तो जिस समय आत्मा इस शरीर को छोड़ती है उस समय उसे न किसी प्रकार की वेदना होती है और न किसी प्रकार का दुःख। परंतु जितने अंश में मन में संस्कार ग्रहण करने की शक्ति रहती है, उतने समय में मृत्यु के समय वेदना या दुःख का अनुभव होता है। प्राण का निर्गमन उतने ही कष्टबोध कराते हुए होता है। बोध सूचक लक्षण शरीर पर स्वप्न प्रतीत होते हैं।

शरीर में प्राण वाहक तन्तु सर्वत्र फैले हुए हैं। जैसे जैसे प्राणोत्क्रमण होता है वैसे-वैसे वे अपने स्थानों को छोड़ते हैं। इन सब में

मनुष्य खिंचाव का अनुभव करता है । फिर ये प्राण कण्ठ और शिरोभाग से इन्द्रिय मार्ग द्वारा उत्क्रमण करते हैं । मन शरीर के समस्त ज्ञान तन्तुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है इसलिये उसके खिंचाव को अनुभव करता है । आसक्ति रहने के कारण यह खिंचाव शरीर से व्याप्त होने के फल को देख कर भयभीत होता है । यहां तक देखा गया है कि प्राणोत्क्रमण के अनन्तर मुखाकृति भयानकता धारण कर लेती है । मुँह फटा रह जाता है, आंख निकली सी पड़ती है एवं अन्य कई लक्षण प्रगट होजाते हैं ।

इसके विपरीत अनेकों के मुख पर सौम्यता और मृदुहास्य भी देखने को मिलता है जिससे प्रकट होता है कि मृत्यु के समय न उन्हें किसी प्रकार की वेदना हुई है और न वियोग जनित दुःख । किसी भी अटूट संस्कार ने, वासना ने अपना अधिकार उस समय नहीं किया जिस समय प्राणों का उत्क्रमण हुआ था ।

अन्त समय की वेदना और दुःख प्राणी के वियोग जनित अनुभूति का परिणाम है कभी-कभी स्वास्थ्य हीन शरीर के कारण भी ये विकृतियों उत्पन्न होती हुई देखी गयीं हैं । परिमित आहार विहार से जिन्होंने अपने शरीर को स्वस्थ बना लिया है और स्वाध्याय आदि द्वारा जिन्होंने अपने आत्म ज्ञान को बढ़ाकर अपने चरित्र में उतार लिया है वे किसी भी प्रकार असद् संस्कारों से बद्ध नहीं रहते । तब उन्हें भय और शोक क्यों होगा ? दुःख और वेदनाओं की पीड़ा को क्यों सहन करना पड़ेगा ?

अंत की पीड़ा से मुक्ति पाने की साधना तुरन्त ही कारगर नहीं होती उसके लिए तो जन्म से ही श्रम करना होता है मन को वासना शून्य बनाना पड़ता है । तब कहीं सिद्धि के दर्शन होते हैं । इसीसे तो बाल्यावस्था से ही स्वाध्यायशील एवं सदाचार परायण बनने का आदेश दिया है ।

इस दृष्टि से विचार करने से मनुष्य के मृत्यु काल की अवस्था उसके समस्त जीवन का परिचय देने वाली होती है । शारीरिक कष्ट तो अनेक आकस्मिक कारणों से भी उत्पन्न हो जाते हैं, पर जिस मनुष्य का जीवन कर्तव्य पालन में व्यतीत हुआ और जिसने स्वार्थभावना को त्याग परमात्म की भक्ति की है उसे जीवन और मृत्यु दोनों अवस्था में शान्ति प्राप्त होती है ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा